Gyanvividha, Vol.-1; Issue-5 (October-December) 2024 : PP-84-95

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

Online ISSN : 3048-4537
IIFS Impact Factor-2.25
Vol.-1; Issue-5 (Oct.-Dec.) 2024
Page No.- 84-95
©2024 Gyanvividha
www.journal.gyanvividha.com

हेत राम
Assistant Professor,
Choudhary A.R. P.G.
College, Sardarshahar.

Corresponding Author :

हेत राम
Assistant Professor,
Choudhary A.R. P.G.
College, Sardarshahar.

शहरी परिदृश्य और थिएटर की संवेदना : महानगरीय हिंदी नाटकों में अनुभूति, बहुभाषिकता और मंच-संस्कृति

सार : यह शोधपत्र महानगरीय हिंदी नाटकों में उभरती थिएटर की संवेदना और शहरी परिदृश्य के अन्तर्संबंध का विश्लेषण करता है। इसमें महानगरों (मुख्यतः दिल्ली और मुंबई) के रंगमंचीय विकास का ऐतिहासिक अवलोकन प्रस्तुत है, साथ ही बहुभाषिकता एवं मंच-संस्कृति पर शहरी वातावरण के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। शोध के दौरान प्रामाणिक साहित्य, आलोचनात्मक ग्रंथों और शोध-प्रबंधों की समीक्षा की गई तथा रंगमंच से जुड़ी ऐतिहासिक घटनाओं व वर्तमान प्रवृत्तियों का मूल्यांकन किया गया। परिणामतः यह पता चलता है कि शहरी जीवन ने हिंदी रंगमंच की विषयवस्तु, भाषा और प्रस्तुति शैली को गहराई से प्रभावित किया है। महानगरीय नाटककारों ने आधुनिक शहरी अनुभवों, बहुसांस्कृतिक प्रभावों तथा तकनीकी प्रयोगों को अपने नाटकों में समाहित किया है, जिससे एक विशिष्ट मंचीय संवेदना विकसित हुई है। चर्चा के हिस्से में महानगरीय रंगमंच की उपलब्धियों के साथ-साथ चुनौतियों (जैसे सीमित दर्शक-वर्ग, आर्थिक निर्भरता और गैर-शहरी रंगकर्म से दूरी) पर विचार किया गया है। निष्कर्षतः अध्ययन संकेत करता है कि शहरी रंगमंच ने हिंदी नाटक को नई दिशा और दृष्टि प्रदान की है, किन्तु इसकी व्यापक सफलता हेतु छोटे शहरों व लोकधर्मी परंपराओं से जुड़ाव भी आवश्यक है।

मुख्य शब्द : शहरी परिदृश्य; नाट्य संवेदना; बहुभाषिकता; मंच-संस्कृति; महानगरीय थिएटर ।

1. परिचय : हिंदी रंगमंच के विकास में महानगरों की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है। आम तौर पर हिंदी रंगमंच के प्रतिनिधि स्वरुप के तौर पर दिल्ली और मुंबई में होने वाले रंगकर्म को ही देखा जाता है, जबकि वास्तविकता यह है कि ये केवल पूरे परिदृश्य का एक हिस्सा हैं। महानगरीय रंगमंच से आशय उन नाट्य गतिविधियों से है जो बड़े शहरी केंद्रों में पनपी हैं

और जिनमें शहरी जीवन के अनुभव, बहुभाषिक परिवेश तथा आधुनिक मंच तकनीकों की झलक मिलती है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पारसी थिएटर जैसी व्यवसायिक मंडलियों ने मुंबई, दिल्ली, लाहौर आदि शहरों में आधुनिक रंगमंच की नींव रखी। बीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते दिल्ली और मुंबई भारतीय रंगमंच के प्रमुख केन्द्र बन गए, जहां राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (दिल्ली) जैसी संस्थाओं और इप्टा जैसी आंदोलनधर्मी संस्थाओं ने रंगकर्म को नई दिशा दी।

शहरी परिदृश्य में विविध सांस्कृतिक समूहों, भाषाओं और जीवन शैलियों का संगम होता है, जिसका प्रभाव वहां विकसित होने वाले रंगमंच पर स्पष्ट देखा जा सकता है। महानगरों में दर्शकों की विविधता और कलात्मक प्रयोगों की स्वीकृति ने नाटककारों व रंगकर्मियों को नई थीम, शैलियाँ और भाषाई मिश्रण अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया। उदाहरणतः दिल्ली के रंगमंच पर हिंदी के साथ उर्दू, पंजाबी और अंग्रेज़ी के मिश्रित स्वर सुनाई देते हैं, तो मुंबई के हिंदी नाटकों में प्रायः स्थानीय बोलियों व अंग्रेज़ी शब्दावली का सहज प्रयोग मिलता है। महानगरीय मंच-संस्कृति में एक ओर व्यावसायिक थिएटर कंपनियाँ हैं, वहीं दूसरी ओर शौकिया और अकादमिक रंगमंच समूह भी सक्रिय हैं, जो मिलकर एक बहुआयामी रंगमंचीय परिदृश्य रचते हैं।

इस शोधपत्र में आगे चलकर पहले महानगरीय हिंदी रंगमंच के विकास का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिदृश्य प्रस्तुत किया गया है। उसके बाद साहित्य समीक्षा खंड में विषय से संबद्ध प्रमुख पुस्तकों, शोध-प्रबंधों व लेखों की समीक्षाएँ हैं, जिनसे पूर्ववर्ती अध्ययनों की झलक मिलती है। शोधपद्धति खंड में अध्ययन की रूपरेखा बताई गई है। परिणाम खंड में शोध के प्रमुख निष्कर्षों को क्रमबद्ध किया गया है, जबकि चर्चा में इन निष्कर्षों पर विस्तार से विचार कर उनकी प्रासंगिकता और चुनौतियों पर चर्चा की गई है। अंततः निष्कर्ष भाग में पूरे अध्ययन का सार प्रस्तुत करते हुए भावी अनुसंधान की सम्भावनाओं का संकेत दिया गया है।

2. शहरी परिदृश्य और थिएटर की संवेदना का इतिहास : हिंदी रंगमंच के आधुनिक इतिहास में शहरी केंद्रों का उदय उन्नीसवीं सदी में हुआ, जब पारसी रंगमंच जैसी व्यवसायिक नाटक मंडलियों ने महानगरों में अपने प्रदर्शन प्रारंभ किए। पारसी थिएटर ने बंबई (मुंबई) को आधार बनाकर पूरे उत्तर भारत में घूम-घूमकर प्रदर्शन किए और 1870 के दशक में दिल्ली, लाहौर, कोलकाता जैसे बड़े शहरों में रंगमंचीय संस्कृति का प्रसार किया। इन मंडलियों की ख़ासियत थी कि इन्होंने पारंपरिक कथानकों को रंगीन मंचीय चमत्कारों, संगीत और नृत्य से युक्त करके जनता के मनोरंजन का नया साधन बनाया। पारसी रंगमंच बहुभाषिक था – संवाद हिंदुस्तानी (खिचड़ी भाषा) में होते थे, जिसमें हिंदी-उर्दू के मेल के साथ अंग्रेज़ी के शब्द भी आ जाते थे। इस तरह आरम्भिक महानगरीय थिएटर ने एक ओर तो आम जनता को आधुनिक रंगमंच से जोड़ा, दूसरी ओर उसे साहित्यिक दृष्टि से कमजोर मनोरंजन कहा गया। समकालीन आलोचकों ने पारसी थिएटर पर यह कहते हुए प्रहार भी किए कि इनका उद्देश्य कला-साधना नहीं बल्कि धनार्जन था – "हम यहाँ रुपया पैदा करने आए हैं, कुछ साहित्य भंडार भरने नहीं"। इसके बावजूद पारसी रंगमंच से प्रभावित होकर शहरी रंगमंच में अनेक नवीन तत्व स्थापित हुए, जैसे रंगीन मंच सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, महिला कलाकारों का प्रवेश, एवं बहुसांस्कृतिक कथानक।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग में हिंदी क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बनारस जैसे सांस्कृतिक नगर से हिंदी नाटकों की साहित्यिक परंपरा को आगे बढ़ाया। हालाँकि भारतेंदु युग के नाटकों का प्रदर्शन मुख्यतः स्थानीय स्तर पर ही हुआ, किंतु उन्होंने आधुनिक हिंदी नाटक लेखन की नींव रखी। बीसवीं सदी के प्रारंभ में जयशंकर प्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर, आदि साहित्यकारों ने भी शहरों की पृष्ठभूमि पर सृजनात्मक नाटक लिखे। इन्हीं के समकालीन दौर में रंगमंच पर व्यावसायिक मंडलियों के अलावा शौकिया नाट्य

क्लब उभरने लगे थे। उदाहरणतया, 1877 में ख़ुरशीद बल्लिवाला ने दिल्ली में अपनी थिएटर कंपनी स्थापित की जिसमें पारसी और यूरोपीय कलाकारों का मिश्रित दल था। दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद जैसे नगरों के शिक्षित युवाओं ने भी रंगमंचीय दल बनाकर मंचन शुरु किए, जिससे शहरी रंगमंच को नई ऊर्जा मिली। कुछ समीक्षकों ने हालांकि शहरी युवकों द्वारा रंगमंच को अपनाने पर चिंता व्यक्त की कि उन्होंने रंगमंच की सभ्य परंपरा को भटका दिया, फिर भी इस प्रवृत्ति ने रंगमंच को शहरों में स्थायी स्थान दिलाया।

स्वाधीनता आंदोलन के समय 1940 के दशक में इंडियन पीपल्स थिएटर एसोसिएशन (इप्टा) का गठन हुआ, जिसने रंगमंच को जन-जागरण का माध्यम बनाया। इप्टा की शाखाएँ शहर-शहर और गांव-गांव में फैलीं और आज़ादी के आंदोलन के दौरान इप्टा ने नुक्कड़ नाटक, गीत, नृत्य के जरिए पूरे देश में नई चेतना जगाई । इप्टा से जुड़े कलाकारों में शीला भाटिया एक प्रमुख नाम रहीं, जिन्होंने विभाजन पूर्व लाहौर में इप्टा के माध्यम से काम किया और बाद में दिल्ली में आकर 'दिल्ली आर्ट थिएटर' की स्थापना की । शीला भाटिया ने पंजाब की लोकनाट्य परंपरा और संगीत को दिल्ली के महानगरीय रंगमंच से जोड़ा, जिससे हिंदी रंगमंच को क्षेत्रीय लोक-संस्कृति का रंग मिला। स्वतंत्रता के बाद दिल्ली राष्ट्रीय रंगमंच का केंद्र बनकर उभरा। 1959 में स्थापित राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने देशभर से रंगकर्म के प्रतिभाशाली छात्रों को प्रशिक्षण देकर दिल्ली के रंगमंच को शैक्षिक और व्यावहारिक दोनों आधारों पर समृद्ध किया। इसी दौर में रंगमंच की प्रमुख संस्थाओं जैसे संगीतमय नाटक अकादमी, श्रीराम सेंटर, तथा रंगमंडल इत्यादि का भी दिल्ली में विकास हुआ। मुंबई में पृथ्वी थिएटर (प्रिथ्वीराज कपूर द्वारा) और इप्टा की गतिविधियों ने हिंदी व उर्दू रंगमंच को जीवित रखा, यद्यपि वहां मराठी रंगमंच की तुलना में हिंदी थिएटर अपेक्षाकृत छोटा आंदोलन था।

1960-70 के दशक में महानगरों में हिंदी रंगमंच ने नई करवट ली जब मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, बादल सरकार (बांग्ला से हिंदी अनुवाद द्वारा) जैसे नाटककारों के आधुनिक नाटक मंचित हुए। मोहन राकेश का 'आधे-अधूरे' (1969) शहरी मध्यमवर्गीय जीवन के विघटन को दर्शाते हुए महानगरीय संवेदनाओं का प्रतिनिधि नाटक बना। इन आधुनिक नाटकों ने यथार्थवादी मंचन की प्रवृत्ति को बल दिया और संवादों में पहली बार खड़ी बोली हिंदी के साथ रोज़मर्रा की अंग्रेज़ी का भी पुट देखने को मिला। 1970 के बाद दिल्ली में आर्थिक, सामाजिक मुद्दों पर केंद्रित समानांतर रंगमंच समूह सक्रिय हुए - जैसे 'यात्रिक', 'अभियान', 'दिशांतर' आदि (जिनका उल्लेख चन्दूलाल दुबे ने विस्तार से किया है)। दिल्ली और मुंबई के अतिरिक्त कोलकाता, लखनऊ, पटना, भोपाल जैसे नगरों में भी स्थानीय रंगमंच का विकास हुआ, किन्तु राष्ट्रीय स्तर पर दिल्ली-मुंबई को ही मुख्य केंद्र माना गया। चंदूलाल दुबे के अनुसार 1960-70 के दशकों में दिल्ली में नई नाट्य संस्थाओं (भूमिका, लिटिल थियेटर ग्रुप, इंडियन नेशनल थियेटर, आदि) का उदय हुआ तथा मुंबई में हिंदी रंगमंच को बढ़ावा देने वाले संस्थान एवं अकादमियाँ स्थापित हुईं ।

इक्कीसवीं सदी में महानगरीय हिंदी रंगमंच तकनीकी नवाचारों, सामाजिक-राजनीतिक चेतना और विविध भाषिक प्रयोगों का मंच बन चुका है। दिल्ली में प्रतिवर्ष भारत रंग महोत्सव जैसे अंतरराष्ट्रीय रंगमंच उत्सव आयोजित होने लगे, जिसमें देश-विदेश के नाटक मंचित होते हैं। मुंबई में व्यावसायिक थिएटर के साथ-साथ प्रयोगधर्मी नाटक (जैसे मॉनोलॉग, वर्कशॉप प्रोडक्शंस) सामने आए। महानगरों के रंगमंच पर अब प्रायः मल्टीमीडिया, डिजिटल प्रकाश व्यवस्था, प्रायोगिक मंच सज्जा का प्रयोग देखा जाता है, जो इसे लोकनाट्य या पारंपरिक रंगमंच से अलग पहचान देते हैं। वहीं विषयवस्तु की दृष्टि से समकालीन शहरी नाटक बेरोजगारी, सामाजिक अलगाव, महिला अधिकार, राजनीतिक व्यंग्य जैसे मुद्दों को उठा रहे हैं। इन महानगरीय नाटकों में भाषायी बहुलता स्वाभाविक रूप से आती है – पात्रों के आपसी वार्तालाप में हिंदी के साथ अंग्रेज़ी या क्षेत्रीय भाषा के अंश, कोड-

स्विचिंग सामान्य बात हो गई है, जो शहरी जीवन की वास्तविकता को मंच पर प्रतिबिंबित करती है।

3. साहित्य समीक्षा : विषय से संबंधित प्रमुख साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि हिंदी रंगमंच के शहरी परिप्रेक्ष्य, इतिहास और संवेदना पर विद्वानों ने गहन कार्य किया है। प्रस्तुत साहित्य समीक्षा में चुने गए प्रत्येक स्रोत की संक्षिप्त समीक्षा की गई है:

दुबे, चन्दूलाल – हिन्दी रंगमंच का इतिहास (पहला भाग): चन्दूलाल दुबे की यह ऐतिहासिक कृति हिंदी रंगमंच के आरंभ से मध्य बीसवीं सदी तक के विकास का क्रमबद्ध वर्णन करती है। लेखक ने क्षेत्रवार रंगमंच के प्रसार को दर्ज करते हुए दिल्ली और बंबई जैसे शहरों में रंगमंचीय गतिविधियों का अलग अध्याय शामिल किया है । इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें पारसी नाटक मंडलियों, व्यवसायिक तथा शौकिया थिएटर समूहों की विस्तार से जानकारी मिलती है। दुबे ने विभिन्न नगरों में स्थापित नाट्य संस्थाओं (जैसे दिल्ली के 'भूमिका', 'यात्रिक', लिटिल थिएटर ग्रुप, आदि) और प्रमुख प्रदर्शनों का उल्लेख करके सिद्ध किया है कि महानगरों ने हिंदी थिएटर को एक संगठित मंच प्रदान किया। यह पुस्तक शोधकर्ताओं के लिए मूल स्रोत का कार्य करती है क्योंकि इसमें अनेक प्रामाणिक विवरण और तिथियाँ दर्ज हैं।

सोमनाथ गुप्त – हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास: सोमनाथ गुप्त द्वारा रचित यह ग्रंथ (जिसका प्रथम संस्करण 1940 के दशक में आया) हिंदी नाटक के साहित्यिक और रंगमंचीय विकास पर पहला विस्तृत शोधप्रबंध माना जाता है। लेखक ने अपने पी-एच.डी. अनुसंधान को पुस्तक का रूप देते हुए उन पक्षों पर भी प्रकाश डाला है जिन्हें उनके पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने नज़रअंदाज़ किया था। उदाहरणस्वरूप, गुप्त ने रंगमंचीय नाटक परंपरा, लोक रंगमंच और प्रसादोत्तर काल के नाटकों को उतनी ही गंभीरता से शामिल किया जितना साहित्यिक नाटकों को। इस पुस्तक की एक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि हिंदी नाट्य साहित्य में रंगमंच (मंचन) और लेखन के अंतर्संबंध को जांचा गया है। सोमनाथ गुप्त का निष्कर्ष था कि यदि हिंदी नाटक के इतिहास में रंगमंचीय प्रस्तुतियों और मंच-परंपराओं का समावेश न किया जाए तो इतिहास अधूरा रह जाता है। अतः यह कृति महानगरीय और लोक-रंगमंच दोनों धाराओं को साथ लेकर चलती है, जिससे शोधार्थियों को संतुलित दृष्टिकोण मिलता है।

अंनकुर, देवेंद्रराज – रंगमंच की कहानी: वर्ष 2021 में प्रकाशित देवेंद्रराज अंकुर की इस पुस्तक में रंगमंच के उद्भव से लेकर समकालीन रंगमंच तक का विस्तृत विवरण कहानी के अंदाज़ में प्रस्तुत है। अंकुर, जो स्वयं एक प्रतिष्ठित रंगनिर्देशक रहे हैं, ने रंगमंच के इतिहास, तकनीक और सिद्धांत को रोचक कथा-वृत्तांत के रूप में लिखा है। इंडिया टुडे के एक समीक्षण में बताया गया है कि यह किताब उन शोधार्थियों और रंगकर्मियों के लिए बहुत उपयोगी है जिन्हें पहले रंगमंच संबंधी सामग्री के लिए अंग्रेज़ी पुस्तकों पर निर्भर रहना पड़ता था। अंकुर की पुस्तक की विशेषता है कि यह विश्व रंगमंच की कथाओं को समेटते हुए भारतीय रंगमंच को एक समग्र परिप्रेक्ष्य में रखती है। उन्होंने भारतीय शास्त्रीय, लोक, पारसी और आधुनिक रंगमंच पर अलग-अलग अध्याय दिए हैं, जिससे पाठक यह समझ पाता है कि आधुनिक हिंदी रंगमंच (विशेषकर महानगरीय रंगमंच) किस तरह प्राचीन परंपरा और विदेशी प्रभावों के बीच अपनी स्वयं की पहचान गढ़ता है। लेखक पश्चिमी थिएटर सिद्धांतों की चर्चा करते हुए भी भारतीय रंगमंच के अवदान को प्रमुखता देते हैं। कुल मिलाकर, रंगमंच की कहानी शोध और विवरण का सुंदर समन्वय है, जो रंगकर्म की व्यापक तस्वीर प्रस्तुत करती है।

जैन, नेमिचन्द्र – रंग दर्शन: नेमिचन्द्र जैन हिंदी रंग आलोचना के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं, और रंग दर्शन (प्रथम प्रकाशन 1967, पुनर्मुद्रण 1993) रंगमंच के सिद्धांत और समीक्षा पर केंद्रित पुस्तक है । जैन इस पुस्तक में रंगमंच के दर्शन, सौंदर्यशास्त्र और प्रायोगिक तत्वों पर चर्चा करते हैं। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य रंगविचारों का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए यह

दर्शाया है कि हिंदी रंगमंच में मौलिक चिंतन की परंपरा विकसित हो रही थी। रंग दर्शन में 'रंग-सिद्धांत' से जुड़े विषय (जैसे अभिनय शिल्प, दर्शक-दृष्टि, रंगमंच की सामाजिक भूमिका) को उदाहरणों सहित समझाया गया है। महानगरीय रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में यह पुस्तक इसलिए मूल्यवान है क्योंकि नेमिचन्द्र जैन स्वयं 1960-70 के दशक के दिल्ली के रंगपरिदृश्य से जुड़े थे। उन्होंने समकालीन निर्देशकों और नाटकों की समीक्षा द्वारा यह रेखांकित किया कि कैसे उस दौर के शहरी रंगमंच में एक ओर पारसी थिएटर का असर था तो दूसरी ओर यूरोपीय 'एबसर्ड' नाटक और ब्रेख्त के एपिक थिएटर जैसे प्रयोगों का भी प्रभाव दिखाई दे रहा था। जैन का निष्कर्ष था कि भारतीय रंगमंच को विदेशी सिद्धांतों से प्रभावित होने के बजाय अपनी ज़मीन से जुड़ी सौंदर्य-दृष्टि विकसित करनी चाहिए – इस संदर्भ में उन्होंने बादल सरकार के 'तीसरा रंगमंच' को समय के साथ भुला दिए जाने का उदाहरण देते हुए लोकधर्मी और प्रयोगधर्मी दृष्टिकोण के संतुलन की वकालत की है। रंग दर्शन महानगरीय हिंदी रंगमंच के आलोचनात्मक अध्ययनों की नींव रखने वाला ग्रंथ है।

गुप्त, जगदीश; पाण्डेय, रामजी; वर्मा, राजकुमार – हिंदी नाटक और रंगमंच: तीन साहित्यकारों द्वारा संयुक्त रूप से लिखित/संपादित यह पुस्तक हिंदी नाटक की साहित्यिक प्रवृत्तियों और रंगमंचीय प्रस्तुति दोनों पहलुओं का समग्र अध्ययन प्रस्तुत करती है। इसमें राजकुमार वर्मा और जगदीश गुप्त जैसे प्रख्यात लेखकों के लेख शामिल हैं, जिन्होंने हिंदी नाटकों की विषयवस्तु के विकास और रंगमंच के तकनीकी पक्षों पर प्रकाश डाला है। यद्यपि यह ग्रंथ मुख्यतः मध्य-बीसवीं सदी तक के नाटक एवं रंगमंच को कवर करता है, फिर भी महानगरीय रंगमंच की प्रारम्भिक समस्याओं और संभावनाओं का इसमें विश्लेषण मिलता है। उदाहरणतः, पुस्तक में उल्लेख है कि किस प्रकार दिल्ली में अपनी स्वतंत्र नाट्य-परंपरा न होने से वहाँ के रंगकर्म को पड़ोसी क्षेत्रों (पंजाब, उत्तर प्रदेश) की लोकशैलियों से प्रेरणा लेनी पड़ी। साथ ही, यह भी रेखांकित किया गया है कि आज़ादी के बाद दिल्ली और अन्य महानगरों में बनी संस्थाओं ने किस प्रकार हिंदी नाटक को मंच पर स्थापित करने में योगदान दिया। यह पुस्तक शोधार्थियों के लिए उपयोगी संदर्भ है क्योंकि यह साहित्य और मंच, दोनों को जोड़कर हिंदी नाटक पर एक संतुलित दृष्टिकोण प्रदान करती है।

कुमार, प्रमोद – दिल्ली में हिन्दी रंगमंच के विकास में संस्थाओं एवं नाट्य समूहों की भूमिका: सामाजिक शोध फाउंडेशन के एक पीयर-रिव्यू जर्नल में प्रकाशित प्रमोद कुमार के इस शोधलेख में विशेष रूप से दिल्ली के रंगमंचीय विकास में संगठनों की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। लेखक का तर्क है कि चूँकि दिल्ली की स्वयं की कोई परंपरागत लोक रंगमंच शैली नहीं थी, इसलिए वहाँ रंगमंच पनपने के लिए आसपास के राज्यों की नाट्य परंपराओं और संस्थागत समर्थन पर निर्भर रहना पड़ा । लेख से पता चलता है कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, श्रीराम केंद्र, साहित्य कला परिषद आदि संस्थाओं ने दिल्ली में रंगमंच को बुनियादी ढांचा और प्रशिक्षण उपलब्ध कराया। साथ ही विभिन्न नाट्य दलों (जैसे 'अभियान', 'एस०एस०आर०टी' इत्यादि) ने निरंतर नाट्य-प्रस्तुतियों द्वारा दर्शकवर्ग तैयार किया। प्रमोद कुमार यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 1990 के दशक के बाद दिल्ली में पारंपरिक लोककलाओं को समकालीन रंगमंच से जोड़ने की प्रवृत्ति तेज़ हुई, जो रंगमंच की बड़ी उपलब्धि रही। इस लेख के जरिए स्पष्ट होता है कि महानगरीय रंगमंच की वृद्धि में संस्थागत ढाँचे की कितनी अहम भूमिका होती है, विशेषकर तब जब लोक-आधार कमजोर हो।

आज़ाद, योगेन्द्र – "वर्तमान हिंदी रंगमंच में विभिन्न पक्षों की प्रयोगवादिता एवं रंगमंच पर उसका प्रभाव": अनुसंधान की समीक्षा नामक रिफरीड जर्नल में जून 2019 में प्रकाशित योगेन्द्र आज़ाद के इस शोध-पत्र में इक्कीसवीं सदी के हिंदी रंगमंच में हो रहे नए-नए प्रयोगों का समीक्षण किया गया है। लेखक बताते हैं कि विज्ञान और तकनीक के तेज़ी से बदलते दौर में

रंगमंच भी लगातार नए स्वरूप ग्रहण कर रहा है। आज़ाद के अनुसार आधुनिक हिंदी रंगमंच (जो मुख्यतः महानगरों में केंद्रित है) पर तकनीकी नवाचारों के साथ-साथ प्रस्तुति शैली में विविध प्रकार के प्रयोगों का असर पड़ा है। उदाहरणस्वरूप, प्रकाश संयोजन, दृश्य-श्रव्य उपकरणों का उपयोग, मंच-सज्जा में लचीलेपन, एवं अभिनेता-प्रशिक्षण की नई विधाओं ने मिलकर आधुनिक मंच को पारंपरिक मंच से भिन्न रूप दिया है। लेखक जोर देते हैं कि "प्रयोग" शब्द का अर्थ केवल नई शैली अपनाना ही नहीं है, बल्कि मंचन की संपूर्ण प्रक्रिया में नवाचार लाना है। आलेख में यह भी सूचीबद्ध किया गया है कि एक नाट्य-प्रयोग की सफलता अनेक तत्वों पर निर्भर करती है, जिनमें आलेख का चयन, निर्देशक की तैयारी, अभिनेता का प्रशिक्षण, मंच-प्रबंधन, प्रकाश-ध्वनि, रंग-परिवेश, रूपसज्जा आदि सब शामिल हैं, तथा अंततः दर्शकों की प्रतिक्रिया ही निर्णय करती है। आज़ाद निष्कर्ष देते हैं कि वर्तमान महानगरीय हिंदी रंगमंच में प्रयोगधर्मिता एक आवश्यक गुण बन चुका है जिसने उसे गतिशील रखा है। इस शोध-पत्र से समकालीन रंगमंच की प्रवृत्तियों का अद्यतन परिदृश्य प्राप्त होता है, जो हमारे अध्ययन के लिए प्रासंगिक आधार प्रदान करता है।

4. शोधपद्धति : इस अध्ययन में गुणात्मक शोधपद्धति का प्रयोग किया गया है। शोध के प्रारंभिक चरण में पुस्तकालय एवं डिज़िटल अभिलेखागारों से संबंधित साहित्य (पुस्तकें, आलोचनात्मक लेख, शोध-प्रबंध आदि) एकत्रित कर उनका समीक्षा-पाठ किया गया। साहित्य समीक्षा द्वारा विषय के सिद्धांतात्मक ढांचे और अब तक हुए कार्य की पहचान की गई। इसके उपरांत शोधकर्ता ने ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए महानगरीय हिंदी रंगमंच के विकासक्रम का अध्ययन किया। इसमें प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं (जैसे पारसी थिएटर का आगमन, इप्टा का गठन, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना) को कालानुक्रमिक क्रम में रखकर इनके प्रभावों का विश्लेषण किया गया।

साथ ही, शोध में उदाहरणात्मक पद्धति का भी समावेश है – प्रसिद्ध महानगरीय नाटकों एवं रंगमंच समूहों के कुछ चुने हुए उदाहरण लेकर उनकी विषयवस्तु, भाषा और मंचन शिल्प का विश्लेषण किया गया। इनमें मोहन राकेश के नाटक से लेकर समकालीन निर्देशक ज्योति डोगरा की एकल प्रस्तुतियों तक को शामिल किया गया, ताकि अनुभवजन्य प्रमाण मिले। बहुभाषिकता के पहलू को समझने हेतु कुछ महानगरीय नाटकों में भाषा-प्रयोग (हिंदी के साथ दूसरी भाषाओं का मिश्रण) का अध्ययन किया गया। मंच-संस्कृति की पड़ताल करने के लिए दिल्ली व मुंबई के वर्तमान रंगमंच समूहों, थिएटर उत्सवों, एवं प्रदर्शन कला केंद्रों से जुड़ी द्वितीयक जानकारियों (जैसे पत्रिका लेख, समाचार, रिपोर्ट) का उपयोग किया गया।

डेटा विश्लेषण में विषयवस्तु-विश्लेषण और ऐतिहासिक तुलनात्मक विश्लेषण की तकनीकों का प्रयोग हुआ। विषयवस्तु-विश्लेषण के जरिए नाटकों के पटकथा अंशों और समीक्षाओं को कोड करके मुख्य थीम (शहरी अनुभव, संवेदना) निकाले गए। तुलनात्मक ढंग से परंपरागत (गैर-शहरी) रंगमंच और महानगरीय रंगमंच के गुणों की तुलना की गई, ताकि अंतर स्पष्ट हो सके। पूरे अध्ययन के दौरान प्रामाणिकता सुनिश्चित करने हेतु तथ्यों को संबंधित स्रोतों से क्रॉस-चेक किया गया है और जहाँ आवश्यक हुआ, वहाँ प्रत्यक्ष उद्धरण देकर संदर्भों की पुष्टि की गई है। निष्कर्षों को विश्वसनीय बनाने के लिए बहु-स्रोत डेटा पर आधारित निष्पत्तियों पर ही जोर दिया गया। कुल मिलाकर, शोधपद्धति इस तरह डिज़ाइन गई है कि यह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और समकालीन विश्लेषण दोनों को संतुलित रूप से समाहित कर विषय के बहुआयामी अध्ययन में सहायक हो।

5. परिणाम : इस शोध के परिणामों से कई महत्वपूर्ण तथ्य एवं प्रवृत्तियाँ उजागर हुई हैं, जो हिंदी रंगमंच में महानगरीय परिदृश्य और थिएटर की संवेदना के पारस्परिक संबंध को रेखांकित करते हैं:

1. शहरी परिवेश द्वारा विषयवस्तु का रूपांतरण:

महानगरीय हिंदी नाटकों की विषयवस्तु में शहरी जीवन की वास्तविकताएँ प्रमुखता से स्थान पाती हैं। अध्ययन से पता चला कि दिल्ली, मुंबई जैसे नगरों में रचे या मंचित नाटक प्रायः आधुनिक शहरी समस्याओं, मध्यमवर्गीय संघर्षों, पारिवारिक विघटन, महानगरीय अकेलेपन और नागरिक जीवन की जटिलताओं को दर्शाते हैं। उदाहरणस्वरूप, आधे-अधूरे (मोहन राकेश) महानगरीय परिवार में नैतिक एवं भावनात्मक टूटन को रूपायित करता है, तो बाहर आने से पहले (सत्यदेव दुबे द्वारा अनूदित) जैसे नाटक मुंबई की भागमभाग और अस्तित्वगत अवसाद को प्रदर्शित करते हैं। यह प्रवृत्ति ऐतिहासिक रूप से भी देखने को मिलती है – 1960-70 के दशक में दिल्ली के नाटककारों ने महानगर में बढ़ते उपभोक्तावाद और व्यक्ति के अकेलेपन पर व्यंग्यात्मक नाटक लिखे। निष्कर्षतः, शहरी परिवेश ने हिंदी नाटक की संवेदना को यथार्थवादी एवं आधुनिक चिंताओं की ओर मोड़ा है, जो ग्रामीण या पौराणिक कथानकों से भिन्न एक नए प्रकार का अनुभव जगत प्रस्तुत करती है।

2. बहुभाषिकता और संवादी शैली: महानगरीय नाटकों में बहुभाषिकता स्वाभाविक अवयव के रूप में उभरती है। परिणाम बताते हैं कि दिल्ली, मुंबई जैसे महानगरों में मंचित हिंदी नाटकों के संवाद शुद्ध हिंदी के साथ उर्दू, अंग्रेज़ी तथा क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दों-मुहावरों को समाहित करते हैं। दिल्ली के नाटकों में अक्सर हिंदी-उर्दू का मिला-जुला स्वर (हिंदुस्तानी) सुनाई देता है, जो कहीं न कहीं पारसी थिएटर की देन भी है। वहीं मुंबई के नाटककार संवादों में अंग्रेज़ी शब्दावली या बाँबे-हिंदी (बम्बइया जुबान) का प्रयोग पात्रों की यथार्थवादी छवि बनाने के लिए करते हैं। इस बहुभाषिक संवादी शैली का प्रभाव यह है कि महानगरीय नाटकों के चरित्र अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय प्रतीत होते हैं, क्योंकि महानगरों में आम जनसंवाद वास्तव में बहुभाषी होता है। शोध में यह भी पाया गया कि कुछ नाटकों में भाषा का प्रयोग सामाजिक वर्ग या शिक्षा स्तर को दर्शाने के लिए उपकरण के रूप में हुआ – उच्चवर्गीय पात्र अक्सर अंग्रेज़ी मिश्रित हिंदी बोलते हैं जबकि श्रमिक-वर्ग पात्र स्थानीय लहजे की हिंदी। बहुभाषिकता ने महानगरीय थिएटर की संवेदना को बहुआयामी बनाया है, जिससे भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम न रहकर चरित्र निर्माण और सामाजिक टिप्पणी का साधन बन गई है।

3. मंचन शिल्प और तकनीकी नवाचार: महानगरों की रंगमंचीय मंच-संस्कृति पर आधुनिक तकनीकी नवाचारों का गहरा असर दिखाई दिया है। परिणामों के अनुसार, दिल्ली और मुंबई के प्रतिष्ठित रंगमंच समूहों ने पिछले दो दशकों में प्रकाश (लाइटिंग), ध्वनि, सेट डिज़ाइन और मल्टीमीडिया प्रोजेक्शन का सृजनात्मक इस्तेमाल करना शुरू किया है। यह प्रवृत्ति विशेषकर नए निर्देशकों में देखी गई, जो नाटक को बहु-इंद्रिय अनुभव बनाने हेतु प्रोजेक्टर, ध्वनि प्रभाव, डिजिटल पृष्ठभूमि आदि का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के तौर पर, दिल्ली के कुछ नवीन प्रस्तुतियों में मंच पर वीडियो प्रोजेक्शन के जरिए शहर के वास्तविक दृश्य दिखाकर नाटक को डॉक्युमेंटरी एहसास दिया गया। इसी प्रकार, मुंबई के थियेटर में संगीत और ध्वनि डिज़ाइन पर ज़ोर बढ़ा है – लाइव बैंड या डिजिटल साउंडस्केप के इस्तेमाल से माहौल तैयार किया जाता है। शोध में इस तकनीकी प्रयोगधर्मिता को विस्तार से विवेचित योगेन्द्र आज़ाद के निष्कर्षों से समर्थन मिलता है कि विज्ञान-तकनीक के वर्तमान दौर में रंगमंच सिर्फ साहित्यिक माध्यम नहीं, बल्कि एक प्रायोगिक प्रयोगशाला बन गया है। आज रंगमंच के हर पक्ष – आलेख, अभिनय, मंच-सज्जा, प्रकाश, वेशभूषा – में नित नए प्रयोग हो रहे हैं, जिसने महानगरीय नाटकों की संवेदना को गतिशील, दृश्य-विधा के अधिक निकट और दर्शक-अनुभव को अधिक समृद्ध बना दिया है।

4. संस्थागत ढांचा और मंच-संस्कृति: महानगरों में थिएटर की वृद्धि का एक परिणाम संगठित मंच-संस्कृति का निर्माण है। परिणाम बताते हैं कि दिल्ली, मुंबई आदि शहरों में रंगमंच को संस्थागत समर्थन (जैसे सरकारी अकादमियाँ, थिएटर समूह, नाट्य विद्यालय)

प्राप्त होने से वहाँ नियमित नाट्य-महोत्सव, कार्यशालाएँ और मंचन की निरंतरता संभव हुई है। दिल्ली में रंगमंचीय गतिविधियाँ एक 'सीज़न' के रूप में चलती हैं – शरद ऋतु से वसंत तक अलग-अलग सभागारों में हर सप्ताह नाटक होते हैं, जो एक सांस्कृतिक कैलेंडर का हिस्सा बन चुके हैं। इस मंच-संस्कृति में दर्शकों का एक सुनिश्चित वर्ग तैयार हो गया है जो नियमित रूप से नाटकों का आनंद लेता है। इसके विपरीत, छोटे शहरों में ऐसा निरंतर मंचन कम ही दिखाई देता है। हमारे अध्ययन में प्रमोद कुमार के उस अवलोकन की पुष्टि हुई कि दिल्ली की अपनी कोई पारंपरिक रंगमंच शैली भले न रही हो, पर संस्थाओं ने वहाँ एक नई रंग-संस्कृति विकसित की। इसी तरह मुंबई में पृथ्वी थिएटर, एनसीपीए आदि संस्थाओं ने शहरी थिएटर को मंच, प्रशिक्षण और प्रोत्साहन देकर एक समुदाय का रूप दिया है। इस संगठित मंच-संस्कृति का नतीजा यह है कि महानगरीय थिएटर अधिक पेशेवर और अनुशासित हुआ है – समय पर शो होना, टिकटिंग प्रणाली, मीडिया में प्रचार-प्रसार, नाट्य समीक्षाओं का छपना इत्यादि अब शहरी रंगमंच का अभिन्न हिस्सा हैं। हालाँकि शोध के दौरान एक अहम चुनौती भी उजागर हुई: यह मंच-संस्कृति अभी भी सीमित वर्ग तक केंद्रित है, और आम जनता या दूरवर्ती क्षेत्रों के लोग इससे कम जुड़ पाए हैं।

5. रंगमंच की सामाजिक एवं राजनीतिक धार: महानगरीय रंगमंच की संवेदना में पिछले कुछ दशकों में सामाजिक-राजनीतिक चेतना का स्वर तीव्र हुआ है। शोध निष्कर्षों के अनुसार, दिल्ली के रंगमंच समूहों ने 2010 के बाद सामाजिक आंदोलनों (भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन, निर्भया कांड के बाद महिला सुरक्षा का मुद्दा, वगैरह) पर तीव्र प्रतिक्रिया देते हुए नाटकों का मंचन किया। उदाहरण के लिए, दिल्ली स्थित रंगसमूह 'आसakta' द्वारा पिछले वर्षों में देश के राजनैतिक घटनाक्रमों पर व्यंग्य नाटकों की श्रृंखला प्रस्तुत की गई। मुंबई में भी सामाजिक मुद्दों, जैसे लैंगिक भेदभाव और अल्पसंख्यक अधिकार, पर आधारित नाटक अधिक मंचित होने लगे हैं। इस रुझान से पता चलता है कि महानगरीय कलाकार समकालीन समाज की नब्ज़ पकड़कर रंगमंच के माध्यम से विमर्श चला रहे हैं। हालाँकि कुछ विश्लेषकों का मत है कि मौजूदा दौर में सत्ता-प्रचार के दबाव तथा आर्थिक अनिश्चितता के कारण रंगमंच की आलोचनात्मक धार कुंद भी हुई है। अमितेश कुमार (2024) जैसे समीक्षक बताते हैं कि आज़ादी के बाद के आदर्शवादी रंगमंच की तुलना में आज का महानगरीय रंगमंच कहीं-कहीं "सांस्कृतिक कवायद" बनकर रह गया है, जिसमें सामाजिक हस्तक्षेप की बेचैनी कम हो रही है। हमारे अध्ययन में भी यह उभरकर आया कि व्यावसायिक टिके रहने की मजबूरी में कुछ शहरी नाट्य दल जोखिमपूर्ण राजनीतिक विषयों से बचते हैं। फिर भी, कुल मिलाकर महानगरीय थिएटर अपनी संवेदना में सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति देने का महत्वपूर्ण मंच बना हुआ है, जो समय-समय पर प्रखर रूप में सामने आता है।

6. महानगरीय और गैर-महानगरीय रंगमंच का अंतर और अंतर्संबंध: परिणामों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि महानगरीय हिंदी रंगमंच अपनी संरचना, विषयवस्तु, प्रदर्शन-तकनीक में छोटे शहरों या ग्रामीण रंगमंच से काफी भिन्न है। शहरों में रंगमंच प्रायः प्रायोगिक, नवाचारपूर्ण और बहुविध शैलियों का मिश्रण है, जबकि ग्रामीण/लोक रंगमंच पारंपरिक रूपों (जैसे नौटंकी, रामलीला, लोकनाट्य) पर आधारित रहता है। इसके साथ ही महानगरीय रंगमंच दर्शक-वर्ग, वित्तपोषण और प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भी भिन्न ढंग से संचालित होता है। हालाँकि, शोध से यह भी पता चला कि हाल के वर्षों में इन दोनों ध्रुवों में संवाद बढ़ा है। कई महानगरीय निर्देशकों ने लोकनाट्य के तत्वों को अपने आधुनिक नाटकों में पिरोया है – जैसे संगीत नाटक अकादमी के सहयोग से कुछ प्रोडक्शनों में कथकली, रायपुर की नाचा शैली, या भवाई को समाहित किया गया। दूसरी ओर, बड़े शहरों से प्रशिक्षित रंगकर्मी अब क्षेत्रीय नगरों में जाकर स्थानीय थिएटर को गति दे रहे हैं। द वायर में

प्रकाशित वर्ष 2024 की रंगमंच समीक्षा के अनुसार छोटे शहरों के रंगमंच की कहानियाँ अब सामने आने लगी हैं और दिल्ली-मुंबई से इतर भी सशक्त रंगकर्म हो रहा है। हमारे परिणाम इस बात की पुष्टि करते हैं कि हिंदी रंगमंच के व्यापक परिदृश्य को समझने के लिए महानगरीय और गैर-महानगरीय धाराओं के बीच सहयोग और विनिमय को देखना ज़रूरी है। महानगरीय संवेदना के विकसित औज़ार (जैसे प्रकाश तकनीक, आधुनिक स्क्रिप्ट लेखन) अब छोटे शहर अपनाने लगे हैं, वहीं महानगर के कलाकार लोकधर्मिता से सीख लेकर अपने नाटकों को ज़मीनी रंग देने की कोशिश कर रहे हैं। इस परस्पर प्रभाव से भविष्य में एक अधिक संतुलित राष्ट्रीय रंगमंच संस्कृति उभर सकती है।

6. चर्चा एवं विश्लेषण : उपरोक्त परिणामों के प्रकाश में स्पष्ट होता है कि शहरी परिदृश्य और थिएटर की संवेदना का संबंध गहरा एवं जटिल है। महानगरीय जीवन ने हिंदी रंगमंच की संवेदना को न केवल नए विषय दिए हैं, बल्कि अभिव्यक्ति की नई शैलियाँ भी प्रदान की हैं। यहाँ चर्चा के तहत कुछ मुख्य बिंदुओं का विश्लेषण किया जाता है:

महानगरीय रंगमंच की विशिष्ट पहचान: ऐतिहासिक और समकालीन परिप्रेक्ष्य से देखें तो महानगरीय हिंदी रंगमंच ने स्वयं को एक विशिष्ट पहचान दी है। यह पहचान पारसी थियेटर से चली आ रही मनोरंजनप्रियता, भारतेन्दु-प्रसाद युग से मिली साहित्यिक गहराई, इप्टा से मिली सामाजिक प्रतिबद्धता और आधुनिक युग की तकनीकी चपलता का सम्मिश्रण है। शहरी रंगमंच की संवेदना इसीलिए बहुस्तरीय है – उसमें एक ओर व्यावसायिक हास्य-व्यंग्य नाटक भी हैं जो बड़े दर्शक-वर्ग को लुभाते हैं, तो दूसरी ओर सामाजिक यथार्थवादी एवं प्रयोगशील नाटक भी हैं जो कला के गंभीर आस्वादकों को संतुष्ट करते हैं। नेमिचन्द्र जैन ने अपने नाट्य-आलोचना में इस बहुस्तरीयता को इंगित करते हुए कहा था कि भारतीय रंगमंच को पश्चिमी साँचों में पूरी तरह नहीं ढाला जा सकता, क्योंकि इसकी अपनी सामाजिक सांस्कृतिक परतें हैं। यह बात आज के महानगरीय रंगमंच पर भी लागू होती है, जहाँ एबसर्ड थिएटर, एपिक थिएटर, लोक रंगमंच, कमर्शियल थिएटर – सभी प्रवृत्तियाँ समानांतर चल रही हैं। इस विविधता में ही महानगरीय थिएटर की ताकत निहित है, जिसने हिंदी रंगकर्म को एकरूपता से बचाकर नवीनता बनाए रखी है।

बहुभाषिकता: संवेदनात्मक विस्तार बनाम शुद्धतावाद: शहरी हिंदी नाटकों में भाषाई मिश्रण एक आम बात हो चली है, जिसने थिएटर की संवेदना को व्यापक किया है। बहुभाषिक संवादों ने महानगरीय नाटकों को यथार्थ का पुट देने के साथ-साथ कला की दृष्टि से भी समृद्ध किया है। जब पात्र दो या तीन भाषाओं में बात करते हैं तो वह नाटक के संवेदनात्मक प्रभाव को कई स्तरों पर पहुँचाता है – दर्शक न सिर्फ कथ्य से बल्कि भाषा-भंगिमाओं से भी जुड़ते हैं। उदाहरणतः, किसी पात्र द्वारा अंग्रेज़ी का वाक्य बोलते ही सभागार में एक पहचान का भाव जगता है क्योंकि शहरी श्रोता उसी भाषा-संस्कार में जीता है। दूसरी ओर, पारंपरिक दृष्टिकोण रखने वाले कुछ नाट्य मनीषियों ने इस बहुभाषिकता पर सवाल भी उठाए हैं। उनका मानना है कि इससे हिंदी नाटक की भाषायी शुद्धता बाधित होती है और साहित्यिक सौंदर्य कम होता है। लेकिन, हमारे विश्लेषण से यह उद्भासित होता है कि बहुभाषिकता वस्तुतः महानगरीय नाटक की संवेदनात्मक पहुंच को बढ़ाने वाला तत्व साबित हुई है। हिंदी रंगमंच के इतिहास पर दृष्टि डालें तो पाएंगे कि पहले भी जनभाषा (हिंदुस्तानी) में लिखे नाटक अधिक लोकप्रिय हुए – जैसे आगा हश्र काश्मीरी या राधेश्याम कथावाचक के नाटक। अतः वर्तमान बहुभाषिक रुझान को नई परिस्थिति में पुरानी प्रवृत्ति का आधुनिक रूप कहा जा सकता है। समावेशी भाषा ने महानगरीय थिएटर को उस व्यापक शहरी समुदाय से जोड़ा है जो बहु-भाषाई परिवेश में रहता है।

आधुनिक तकनीक और दर्शक अनुभव: महानगरीय थिएटर ने तकनीकी नवाचारों को अपनाकर दर्शक-

अनुभव को नए आयाम दिए हैं। चर्चा से उभरकर आता है कि मल्टीमीडिया, उन्नत प्रकाश तकनीक, ध्वनि उपकरणों के प्रयोग ने नाटकों की संप्रेषणीयता बढ़ाई है। जहाँ एक ओर कुछ पारंपरिक रंगकर्मी इस प्रौद्योगिकी-आश्रित रंगमंच को "दृश्य चकाचौंध" कहकर आलोचना करते हैं, वहीं दूसरी ओर युवा दर्शकों की एक पीढ़ी इससे रंगमंच की ओर आकर्षित हो रही है जो संभवतः फिल्म व वेब माध्यमों की आदी है। तकनीक के समावेश ने मंचन की गति और दृश्यात्मक अपील बढ़ा दी है – उदाहरणार्थ, तेज़ प्रकाश परिवर्तन या प्रोजेक्शन द्वारा सेकंडों में दृश्य परिवर्तन संभव है, जो शेक्सपियर के युग में कल्पना पर छोड़ना पड़ता था। योगेन्द्र आज़ाद के मतानुसार, तकनीक ने सिर्फ रूप बदला है, रंगमंच का मूल प्रयोजन (संवेदना सम्प्रेषण) वही है। हमारे विवेचन में भी यह बात पुष्ट होती है कि तकनीक तभी अर्थपूर्ण है जब उसका उपयोग कथ्य को उभारने के लिए हो; अन्यथा वह निरर्थक प्रदर्शन बनकर रह जाएगा। महानगरीय निर्देशकों में अब इस संतुलन को साधने की परिपक्वता आ रही है – जैसे कई अनुभवी निर्देशक दृश्य-प्रभावों को उतना ही प्रयोग में लाते हैं जितना कथानक की मांग हो, ताकि दर्शक का ध्यान कहानी और पात्रों से न हटे। कुल मिलाकर, तकनीकी सक्षमता ने महानगरीय थिएटर की संवेदना को आधुनिकता का पंख दिया है, जिसके जरिए वह अन्य माध्यमों (सिनेमा, डिजिटल कंटेंट) के समानांतर खुद को प्रासंगिक बनाए रखने में सफल हो रहा है।

आर्थिक एवं संरचनात्मक चुनौतियाँ: चर्चा का एक महत्वपूर्ण आयाम महानगरीय रंगमंच की चुनौतियाँ हैं, जिनका प्रभाव वहाँ की रंग-संवेदना पर भी पड़ता है। शोध में पाया गया कि बड़े शहरों में रंगमंच संचालित करने की लागत ऊँची है – ऑडिटोरियम के किराये, तकनीशियनों के मानदेय, प्रचार व्यय आदि। फलस्वरूप, कई बार थिएटर समूहों को या तो सरकारी अनुदान पर निर्भर होना पड़ता है या व्यावसायिक राह पकड़नी पड़ती है। द वायर के लेख में अमितेश कुमार इंगित करते हैं कि हिंदी प्रदेशों में रंगमंच अभी समाज पर इतना प्रभावशील माहौल नहीं बना पाया कि वह दर्शकों और बाज़ार से पूर्ण समर्थन पाए। दिल्ली के परिप्रेक्ष्य में देखें तो अधिकांश नाट्य दलों को सरकारी सांस्कृतिक संस्थानों से अनुदान या प्लेटफॉर्म चाहिए होता है – लेकिन वर्तमान में सांस्कृतिक संस्थानों के राजनीतिकरण और अनुदानों की अनियमितता ने स्वतंत्र, आलोचनात्मक रंगकर्मियों के लिए संकट खड़ा किया है। सत्ता-प्रेरित एजेंडों से न जुड़ने वाले कलाकार आर्थिक हाशिये पर चले जाते हैं, जिससे रंगमंच की रचनात्मक स्वतंत्रता प्रभावित होती है। हमारे विश्लेषण में यह बात भी आई कि महानगरों में प्रतियोगी मनोरंजन विकल्प (सिनेमा, ओटीटी, क्लब इत्यादि) की मौजूदगी के कारण रंगमंच को दर्शक खींचने के लिए अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता है। कुछ समूह इसीलिए अपेक्षाकृत हल्के-फुल्के या स्टार-फ़ीचर नाटक तैयार करते हैं ताकि टिकट बिक्री बढ़े। यह प्रवृत्ति शहरी रंगमंच की संवेदना में व्यावसायिकता का पुट ले आई है, जो कभी-कभी कला की कीमत पर भी होती है। यह एक नाजुक संतुलन है जिसे हर शहरी रंगकर्मी को साधना पड़ रहा है – कला और आजीविका में समन्वय। चर्चा का निष्कर्ष यह निकलता है कि महानगरीय रंगमंच के सामने आर्थिक आत्मनिर्भरता और स्वतंत्र अभिव्यक्ति – इन दो मोर्चों पर गंभीर चुनौतियाँ हैं, जिनसे निपटने के लिए रंगकर्मियों, संस्थानों और नीति-निर्माताओं को मिलकर प्रयास करना होगा।

विस्तृत परिदृश्य में महानगरीय रंगमंच: महानगरीय हिंदी रंगमंच की संवेदना को समझने के लिए उसे पूरे राष्ट्रीय रंगमंच परिदृश्य से काटकर नहीं देखा जा सकता। आज यदि दिल्ली और मुंबई के थिएटर को हिंदी रंगमंच का चेहरा माना जाता है, तो यह भी ज़रूरी है कि वह चेहरा हिंदी थिएटर के बाकी शरीर से जुड़ा रहे। अन्यथा एक विभाजन रेखा बन जाएगी जहां महानगरीय रंगमंच अभिजात्य और अलग-थलग हो जाएगा तथा शेष क्षेत्रों का रंगकर्म अपने संघर्षों में अकेला पड़ जाएगा। हमारी चर्चा में यह उभरकर आया कि ख़ुशी की बात है – हाल के वर्षों में दिल्ली-मुंबई

के बाहर भी रंगमंच पर लेखन और समीक्षा शुरू हुई है, छोटे शहरों के उत्सव और प्रयोग सामने आ रहे हैं, जिन्हें बड़ा मंच देने की ज़रूरत है। महानगरीय रंगमंच को अपनी संवेदना में अधिक समावेशी बनना होगा – जैसे कथानक में छोटे शहर की कहानियाँ लेना, या वहाँ के कलाकारों को मंच देना। इससे न केवल संपूर्ण हिंदी रंगमंच समृद्ध होगा बल्कि महानगर का रंगकर्म भी नई ताज़गी और जीवन शक्ति पाएगा। एक समग्र प्रवाह के अभाव में संभव है कि महानगरीय थिएटर शहरी दर्शकों के एक छोटे दायरे में सिमटकर रह जाए। इसलिए, चर्चा का अंतिम विचार यह है कि महानगरीय थिएटर की संवेदना का इतिहास और वर्तमान दोनों तभी पूर्ण अर्थों में सार्थक होंगे जब हिंदी रंगमंच के समूचे परिदृश्य में एक परस्पर संवाद कायम हो – महानगर और कस्बे की रंगधारा जब मिलेंगी तभी रंगमंच जीवनदायी सरिता की भांति प्रवाहमान रहेगा।

7. निष्कर्ष : प्रस्तुत शोध में "शहरी परिदृश्य और थिएटर की संवेदना" के अंतर्गत महानगरीय हिंदी नाटकों की विशेषताओं और विकास-यात्रा का विस्तृत अन्वेषण किया गया। अध्ययन के दौरान ऐतिहासिक विवेचन और समकालीन मूल्यांकन के माध्यम से यह निष्कर्ष निकला कि महानगरीय परिवेश ने हिंदी रंगमंच को विषय, भाषा तथा मंचन-शैली की दृष्टि से गहराई से प्रभावित किया है। महानगरों में पनपे रंगमंच ने आधुनिक शहरी जीवन के अनुभवों – जैसे औद्योगिक सभ्यता के तनाव, पारिवारिक संरचनाओं में परिवर्तन, महिला एवं हाशिए के स्वर, राजनीतिक चेतना – को अपने नाटकों में अभिव्यक्ति दी, जिससे थिएटर की संवेदना व्यापक और प्रासंगिक बनी। बहुभाषिकता महानगरीय नाटकों का स्वाभाविक गुण बनकर उभरी, जिसने संवादों को जीवन्त और यथार्थ के निकट बनाया। साथ ही, संस्थागत संरचना और तकनीकी अधोसंरचना की उपलब्धता ने शहरी रंगमंच को एक सुदृढ़ मंच-संस्कृति प्रदान की, जहाँ निरंतर प्रयोग और प्रस्तुति संभव हो सकी।

इतिहास से लेकर आज तक महानगरीय हिंदी रंगमंच एक 'ट्रेंड सेटर' की भूमिका में रहा है – नई शैलियों, प्रवृत्तियों और सामाजिक मुद्दों को पहले पहल इन्हीं रंगमंच केंद्रों ने अपनाया, जो बाद में व्यापक हिंदी रंगपरिदृश्य में फैले। हालाँकि, यह भी सामने आया कि महानगरीय रंगमंच अपनी कुछ अंतर्निहित चुनौतियों से जूझ रहा है, जैसे कि आर्थिक आत्मनिर्भरता की कमी, सरकारी-संस्थागत नियंत्रण, सीमित दर्शकवर्ग आदि। फिर भी, इन बाधाओं के बीच भी शहरी थिएटर ने अपने को जीवित और गतिशील रखा है। तकनीक और पारंपरिक कला के संतुलन, गंभीर और हल्के विषयों के मिश्रण, तथा स्थानीय और वैश्विक प्रभावों के संगम ने महानगरीय थिएटर को निरंतर नया रूप दिया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि महानगरीय हिंदी रंगमंच ने बीते सौ वर्ष में जो संवेदनात्मक आयाम विकसित किए हैं, वे आने वाले समय में सम्पूर्ण हिंदी रंगमंच की दिशा तय करने में महत्त्वपूर्ण होंगे। यदि दिल्ली, मुंबई जैसे केंद्र रंगकर्म को लोकधर्मी जड़ों से जोड़ते हुए व्यापक समाज तक ले जाने का प्रयास करें, तो रंगमंच की लोकप्रियता और प्रभाव में वृद्धि होगी। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने अनुभवपरक और कला-आधारित शिक्षा पर ज़ोर दिया है – यदि महानगरीय रंगमंच समूह शैक्षणिक परिसरों से साझेदारी कर नई पीढ़ी को रंगमंच से जोड़ें, तो "नयी तालीम" और रंगमंच का सेतु बन सकता है। इसी तरह, डिजिटल मीडिया का प्रयोग कर महानगरीय नाटकों की रिकॉर्डिंग व प्रसारण द्वारा उन्हें भौगोलिक सीमाओं से बाहर ले जाया जा सकता है।

महानगरीय परिवेश और थिएटर की संवेदना का संबंध परस्पर अनुपूरक रहा है – शहर ने रंगमंच को नई कहानियाँ, श्रोता और साधन दिए, तो रंगमंच ने शहर को सांस्कृतिक पहचान और चिंतन के क्षण प्रदान किए। हिंदी रंगमंच के इतिहास में महानगर एक प्रकाशस्तंभ की तरह रहे हैं, लेकिन उस रोशनी को संपूर्ण समुद्रतट पर फ़ैलाने की ज़िम्मेदारी भी उन्हीं पर है। इस शोध के आलोक में सुझाव है कि बड़े शहरों का रंगमंच यदि छोटे नगरों के रंगमंच से हाथ मिलाकर

चले, नवीन तकनीक के साथ-साथ मानवीय संवेदना को केंद्र में रखे, और बहुभाषिक एवं बहुसांस्कृतिक विरासत को गर्व से अपनाए, तो हिंदी रंगमंच निश्चय ही आने वाले दशकों में एक सशक्त, समावेशी और जीवंत माध्यम बना रहेगा।

संदर्भ सूची :

1. **दुबे, चन्दूलाल।** हिन्दी रंगमंच का इतिहास (पहला भाग). [डिजिटाइज़्ड संस्करण], ई-पुस्तकालय, मूल प्रकाशन: जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 19 ।
2. **अंकुर, देवेंद्रराज।** रंगमंच की कहानी. वाणी प्रकाशन, 2021.
3. **गुप्त, सोमनाथ।** हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास. [डिजिटाइज़्ड संस्करण], हिंदी भवन (इलाहाबाद) द्वारा प्रकाशित, 1950 (लगभग).
4. **समकालीन हिन्दी नाटक — और रंगमंच.** [डिजिटाइज़्ड आलोचनात्मक ग्रंथ], मूल प्रकाशन विवरण अज्ञात.
5. **लाल, लक्ष्मीनारायण।** रंगमंच और नाटक की भूमिका. [डिजिटाइज़्ड संस्करण], मूल प्रकाशन: राजपाल एंड सन्ज़, 19?
6. **सिंह, बच्चन।** हिंदी नाटक. राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008.
7. **आनंद, महेश।** हिन्दी रंगमंच: एक दृश्य यात्रा. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, 20?
8. **गुप्त, जगदीश**, एवं **रामजी पाण्डेय, राजकुमार वर्मा**. हिंदी नाटक और रंगमंच. [डिजिटाइज़्ड संस्करण], ई-पुस्तकालय, मूल प्रकाशन: 19?
9. **गुप्त, सोमनाथ।** हिन्दी नाटक साहित्य. [डिजिटाइज़्ड पाठ], डिजिटल लाइब्रेरी ऑफ इंडिया, मूलतः पी-एच.डी. थीसिस (आगरा विश्वविद्यालय) ।
10. **जैन, नेमिचन्द्र.** रंग दर्शन. [डिजिटाइज़्ड संस्करण], अरविंद गुप्ता संग्रह, मूल प्रकाशन: राधाकृष्ण प्रकाशन, 1993 (प्रथम संस्करण 1967).
11. **गौतम, रमेश**, संपादक. दिल्ली का हिन्दी नाटक और रंगमंच. अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, 20।
12. **सिंह, धर्मेन्द्र प्रताप.** "दिल्ली हिन्दी रंगमंच के अवधारणा और विकास की समस्या." पी-एच.डी. शोधप्रबंध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2016.
13. **शर्मा, देवेश एन.** "हिन्दी रंगमंच के विकास में बंबई (मुंबई) का योग." पी-एच.डी. शोधप्रबंध, मुम्बई/गोवा विश्वविद्यालय, 20 ।
14. **स्वामी, देवेंद्र.** "बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में हिंदी नाटक: दृष्टि एवं शिल्प." पी-एच.डी. शोधप्रबंध, 20 ।
15. **श्रीकला, वी. आर.** "समकालीन हिंदी नाटकों में मिथक और यथार्थ." पी-एच.डी. शोधप्रबंध, 20।
16. **कुमार, प्रमोद.** "दिल्ली में हिन्दी रंगमंच के विकास में संस्थाओं एवं नाट्य समूहों की भूमिका." समाज शोध फाउंडेशन, शोध पत्रिका (पीयर-रिव्यू), वर्ष अज्ञात (लगभग 2020).
17. **कुमार, विष्णु.** "दिल्ली आर्ट थिएटर और शीला भाटिया." इंटरनेशनल जर्नल ऑफ क्रिएटिव रिसर्च थॉट्स (आई.जे.सी.आर.टी.), वर्ष 11, अंक 2, फरवरी 2023, पेज न. 552-556.
18. **अज्ञात लेखक.** "आधुनिक हिंदी नाटकों की रंगमंचीय स्थिति." ज्योतिर्मय (बी.ए.ओ.यू. ई-जर्नल), अहमदाबाद, वर्ष अज्ञात.
19. **आज़ाद, योगेन्द्र.** "वर्तमान हिंदी रंगमंच में विभिन्न पक्षों की प्रयोगवादिता एवं रंगमंच पर उसका प्रभाव." रिसर्च जर्नल की समीक्षा, खंड 8, न. 9, जून 2019, पेज न. 1-5.
20. **संस्कृति संसाधन केंद्र (सी.सी.आर.टी.) फेलोशिप रिपोर्ट.** "21वीं सदी के प्रथम दशक में दिल्ली रंगमंच की प्रस्तुतियाँ (सन 2001 से 2010)", नई दिल्ली: सी.सी.आर.टी. इंडिया, 2011 (प्रकाशन वर्ष अनुमानित).
21. **कुमार, अमितेश.** "वर्ष 2024 का रंगमंच: छोटे शहरों की अनकही दास्तान." द वायर हिंदी, 26 दिसम्बर 2024.

•